International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

मन्दिर वास्तु : उत्कर्ष- प्रकर्ष एवं प्रतीकत्व

संग्राम सिंह[1], डॉ शिवाकांत त्रिपाठी[2]

[1]शोधार्थी, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजाति विश्वविद्यालय अमरकंटक (म॰प्र॰)
[2]सह आचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजाति विश्वविद्यालय अमरकंटक (म॰प्र॰) एवं

Abstract
ब्राह्मण ग्रंथों में ब्रह्माण्ड में व्याप्त मूलतत्व की अनन्तता से अनुप्राणित होकर वैदिक ऋषियों ने 'अनन्त वै वेदाः' कहकर वैदिक चिन्तन के सुविस्तीर्ण क्षेत्र का परिचय दिया है। अनन्त सत्ता को नाना रूपों और प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न वैदिक चिन्तन की विशेषता है। ऋग्वेदोक्त सहस्रशीर्षा पुरुष ही वह अनन्त सत्ता है। उसकी अन्य संज्ञा 'ऊर्ध्व' और 'त्रिपाद' है जो सृष्टि से ऊपर अथवा बाहर रहते हुए भी सृष्टि से भी अविच्छिन्न रहता है (त्रिपाद उर्ध्वमदैपुरूषः पादोऽस्येहाभवत्पुन:)। सृष्टि में सर्वत्र चैतन्य की सत्ता विराजमान है, क्योंकि वह अनन्त प्रजापति के रूप में सम्पूर्ण सृष्टि में रम रहा है (तसृटष्ट्वा तदेवानुपप्राविशत)। इस प्रकार, वैदिक चिन्तन ब्रह्माण्ड और पिण्ड के साम्य को स्वीकार करता है (सर्व सर्वत्र सर्वदा)।

मुख्य बिंदु अनन्त वै वेदाः,सर्व सर्वत्र सर्वदा,पक्वेष्टका,इष्टिकान्यास,शतपथ ब्राह्मण,तैत्तिरीय संहिता,दाह- परबतिया,सिला विगड़-भिचा,सुकनासी

वैदिक-पौराणिक परम्परा में अनन्त के स्तवन के दो रूपों की व्याख्या मिलती है। [1]
प्रथम तो अनन्त सत्ता प्रकृति रूप एवं निराकार है, जिसे ज्ञानी तथा योगी जन ध्यान के द्वारा स्तवन करते हैं। द्वितीयत: उस अनन्त का रूप साकार ब्रह्म अथवा देवता रूप है, जिसके स्तवनार्थ देवायतनो एवं देव प्रतिमाओं की परिकल्पना की गयी है। ऐसे पूजा-वास्तु रूपों में प्रतीकों के माध्यम से उसे परम सत्ता की विद्यमानता का रूपायन किया गया है। ज्ञातव्य है कि देवायतनों अथवा मंदिरों के माध्यम से अपार्थिव स्वर्ग का पार्थिव संसार से मिलन कराने का सम्यक विधान हमारे धर्मग्रंथो एवं शिल्पग्रंथों में निरूपित मिलता है। वस्तुतः मंदिर का निर्माण भूतल पर स्वर्ग का पार्थिव अवतरण माना जा सकता हैं। मानव अनादि काल से देवत्व-प्राप्ति के लिए संघर्ष करता रहा है। एदतर्थ ही पुराणों में इष्ट तथा पूर्व कर्मों को संपन्न करने पर विशेष बल दिया गया है। पुराणों में मंदिर-निर्माण प्रक्रिया दैवत्व प्राप्ति की दिशा में पूर्त-कर्म माना गया है।
वेदोक्त अनन्त निराकार परम पुरुष को साकार मूर्त रूप प्रदान करने के लिए मानव द्वारा प्रयुक्त प्राकृतिक साधनों यथा-वृक्ष दारू पक्वेष्टका, पाषाण-शिला आदि का उपयोग किया गया। ध्यातव्य है कि इष्टिकान्यास प्राचीन वैदिक यज्ञ-वेदी-निर्माण परंपरा से विकसित वास्तु विद्या है। पुरातात्विक खोजों से ज्ञात होता है कि प्राचीन वास्तु-निर्माण परम्परा में मृतिका, पक्वेष्टका तथा वृक्ष-दारू का ही प्रधान्य था। पाषाण द्रव्य का बहुश: प्रयोग अवांतर काल में प्रचलित हुआ।
मंदिर मूलत: धार्मिक वास्तु रचना है। इसका विकास न तो किसी धर्म विशेष से और न ही सम्प्रदाय विशेष से हुआ, बल्कि इसका उद् भव मानव के मन में विद्यमान परम सत्ता के आकृति-पूजा की भावना से हुआ है। मनुष्य ने ईश्वर देवता अथवा महापुरुषों की पूजा के लिए, जो मूर्ति अथवा प्रतीक-रूप निर्मित किया, उन्हें काल क्रमानुसार पवित्र स्थानों और भवनों में

स्थापित करने को बोल दिया। ये पूजा-स्थल अथवा वास्तु-रूप धीरे-धीरे विभिन्न रूपों और आकारों में विकसित होते हुए मंदिर का आकार ग्रहण कर लिए। इनके रूप चाहे जो भी रहे हो, यह सच है कि भारत के सभी धर्मावलम्बियों एवं मतों ने इन्हें अपने-अपने तरीके से अपनाया है।

वस्तुत: मंदिरों के उत्कर्ष और प्रकर्ष का इतिहास आज भी सुनिश्चित नहीं हो सका है। साहित्यिक परम्परा के अवलोकन से यह प्रकट होता है कि वैदिक वांगमय में मूर्ति एवं मंदिर-निर्माण का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु उक्त साहित्य से यह अवश्य ज्ञात होता है कि इंद्र, अग्नि, सविता, वरुण, सूर्य, विष्णु, रुद्र, श्री, अदिति, पृथ्वी, अम्बिका आदि देव-देवियों की उपासना लोक में प्रचलित हो चुकी थी। वैदिक उल्लेखों के आधार पर कतिपय विद्वान् यह मत प्रतिपादित करते हैं कि उपर्युक्त देवी -देवियों की उपासना प्रकृति-शक्ति के रूप में भी की जाने लगी थी। ऋग्वेद [2] के एक मंत्र में यह कहा गया है कि 'मेरे इंद्र को कौन मोल लेगा'□ (कइमं दशभिर्मम इन्द्र क्रीणाति धेनुभि:)। इससे इंद्र की किसी प्रतिमा अथवा प्रतीक-रूप का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। वैदिक काल में मूर्ति-पूजा एवं मूर्ति निर्माण की ओर आचार्य सायण ने भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने अग्निदेव का उल्लेख स्वर्णपुरुष के रूप में किया है। कुछ विद्वान इस मानवाकृति को सुवर्ण-टीकरे के सदृश परिकल्पित करते हैं, जो लौरियानंदगढ़ के उत्खनन में सम्भवत: पृथ्वी-देवी के प्रतीक के रूप में प्राप्त हुई है। इसे संयोग ही कहा जा सकता है कि अभी तक वैदिककालीन कोई भी मूर्ति हमें कहीं से भी प्राप्त नहीं हो सकी है। यहां यह बात विशेष ध्यातव्य तब है कि वैदिक काल में में मूर्ति-निर्माण का मात्र अनुमान ही किया जा सकता है, इस प्रकार इस काल में मंदिर- निर्माण का हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

वैदिक परम्परा में यज्ञ-कर्मों की प्रधानता मिलती है। यज्ञ ही उपासना के प्रमुख केंद्र थे। यज्ञ-वेदी के निर्माण के विधि-विधानों का वैदिक वांगमय में विशद् उल्लेख मिलता है।[3] शतपथ ब्राह्मण [4] में यज्ञ के लिए यज्ञ-वेदी बनाने के साथ-साथ तीन ओर से उसे शस्य से ढकने का भी उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय संहिता [5] में इस प्रकार परिवेष्ठित वेदी को गर्भ-गृह कहा गया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र [6] का कथन है कि 'गर्भ-गृह' सदृश वेदी बाहरी स्थल से अलग आकार में होने के कारण परम पवित्र एवं पूज्य मानी जाती थी। ध्यातव्य है कि मंदिर वास्तु के प्राकट्य का यह प्राथमिक अनगढ़ शस्याछादित रूप प्रतीत होता है। ऋग्वेद [7] के एक मंत्र में यक्ष-सद्म का उल्लेख मिलता है। प्राचीन काल में यक्ष भी देवतुल्य शक्ति संपन्न और पूज्य माने जाते थे। उनकी पूजा हेतु किसी न किसी प्रकार की वास्तु-रचना अवश्य की जाती रही होगी। इतना ही नहीं, ब्राह्मण, सूत्र, महाभारत तथा रामायण आदि ग्रंथों में देवायतन, प्रासाद, देवस्थान देवगृह देवकुल आदि का यत्र-तत्र उल्लेख इस बात को इंगित करता है कि देवताओं के निमित्त तत्कालीन भारत में किसी न किसी प्रकार का वास्तु-रूप अथवा पूज्य स्थल अवश्य रहा होगा। जातकों में यक्ष-भवन, यक्ष-चैत्य और यक्ष आयतन आदि का उल्लेख मंदिर सदृश वास्तु रचना की ओर हमारा ध्यान सहजत: आकृष्ट करता है।

मन्दिर-वास्तु का जो रूप गुप्तकाल में उदित हुआ, यह सर्वथा नवीन आकार में प्रकाश में आया। ज्ञातव्य है कि गुप्तकाल के पूर्व-मन्दिर-वास्तु की एक दीर्घकालीन परम्परा विद्यमान रही होगी, जो शक-कुषाण काल तक आते-आते या तो अपना पूर्व रूप खो चुकी थी अथवा विनष्ट हो चुकी थी। प्राक गुप्तयुगीन मन्दिर-वास्तु के विविध स्वरूपों का अंकन हिन्द-यवन, शक, कुषाण, पंचाल तथा मथुरा आदि जनपदीय सिक्कों पर लघुरूप में देव मूर्तियों के साथ अंकित देखा जा सकता है। कुछ दशक पूर्व रूस-अफगानिस्तान सीमा पर वंक्षु के कांठे में स्थित अई-खानुस नामक स्थल से लगभग 125 ईसा पूर्व सुदूर पश्चिमोत्तर भारतीय सीमा पर शासन करने वाले यवन नरेश अगाथोक्लीज के चांदी के कतिपय सिक्के, प्राप्त हुए हैं, जिन पर एक चबूतरे पर वासुदेव कृष्ण की तथा बलराम संकर्षण की मूर्ति अंकित की गई है। ये मूर्तियां एक छत्र-यष्टि से आच्छादित की गयी हैं। इसी प्रकार, अशोक के रूम्मिनदेई(नेपाल की तराई) अभिलेख में भगवान बुद्ध के पूजा-स्थल के चारों ओर सिला विगड़-भिचा (विकट प्रस्तर-भित्ति) घिरवाने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। चित्तौड़ के निकटस्थ घोसुंडी से प्राप्त अभिलेख में संकर्षण-वासुदेव के पूजा-स्थल पर शिला प्राकार बनाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके पुरावशेष आज भी दर्शनीय हैं। पालि बौद्ध-ग्रंथों में अनेकत्र रूख-चेतिय अर्थात वृक्ष देवता के लिए निर्मित पवित्र वास्तु का वर्णन मिलता है। रुख-चेतिया अंकन

तीसरी-चौथी शताब्दी ई० पू० की कतिपय चांदी की मुद्राओं पर भी परिलक्षित होता हैं। सम्भवतः इस प्रकार की वास्तु-रचनाएं प्राथमिक स्तर के देवालयों का आकार माने जा सकते हैं। देवायतन के समान वास्तु रचना के प्राथमिक आकर हमें पांचाल तथा मथुरा नरेशों के तांबे के सिक्कों पर भी मिलते हैं .[8] इन सिक्कों पर गोल छत वाले मंदिर का जैसा आकर स्पष्ट देखा जा सकता हैं। इसी प्रकार, वर्तुलाकार छत वाले मंदिर की ही तरह आकृति मौर्योत्तर कालीन दक्षिण भारत के बोदिनायक तुरु पुरास्थल से प्राप्त कतिपय चांदी की आहत मुद्राओं पर भी दिखाई देती है, जो स्तंभाधारित एवं द्वितलीय है तथा जिसका नीचे का तल सपाट छत वाला हैं। उस पर एक लघु आकार का शिकार भी अंकित किया गया है। जान एलन ने हिमाचल प्रदेश से प्राप्त पौरव (पूरू) जनपद के सिक्कों पर भी इसी प्रकार की आकृति का उल्लेख किया है .[9] हिमाचल प्रदेश के चकट (त्रिगर्त) जनपद के सिक्कों पर चार स्तंभों पर टिके वर्तुलाकार छत वाले मन्दिरनुमा वास्तु को त्रितलीय अंकित किया गया है। इसमें नीचे का तल स्तंभाधारित है तथा उसे चारों ओर से वेदिका से परिवेष्ठित भी किया गया है। इसे तोरणद्वार के साथ ऊंचे चबूतरे (जगती) पर निर्मित किया गया है। मन्दिर जैसे वास्तु-रूप का अंकन औदुम्बरों तथा कुषाण नरेश हुविष्क के सिक्कों पर भी देखने को मिलता हैं। हुविष्क के सिक्कों पर सपाट छत युक्त मन्दिर-सदृश रचना स्पष्ट दिखाई देती है। परंतु इस प्रकार की आकृति आरंम्भिक सपाट छत वाले गुप्तकालीन मन्दिरों से बिल्कुल मेल नहीं खाती हैं। उपर्युक्त साक्ष्यों के आलोक में ऐसा लगता है कि प्राकमौर्य अथवा मौर्योत्तर किन्तु प्राकगुप्तयुगीन मन्दिर -वास्तु की अपनी कोई अलग वास्तु-निर्माण धारा रही होगी। दुर्भाग्यवश ऐसे मंदिरों के पुरावशेष अब नहीं मिल पा रहे हैं। महाभारत [10] का उल्लेख करते हुए काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने ग्रंथ 'अन्धकारयुगीन भारत' में यह मत व्यक्त किया है कि गुप्तयुग के पूर्व मन्दिर-वास्तु की विकसित परम्परा को कुषाण एवं शक- क्षत्रप शासकों ने समाप्त कर दिया था।

मन्दिर वास्तु रचना का सर्वथा नए ढंग से विकास गुप्त काल से माना जाता है।

वासुदेवशरण अग्रवाल ने गुप्तकालीन कला पर गंभीर प्रकाश डालते हुए इस कला के भौगोलिक प्रसार-क्षेत्र का विशद् विवेचन किया है। उनके अनुसार भारत में पश्चिम में मीरपुर खास से लेकर पूर्व में असम प्रदेश के दाह- परबतिया तक, उत्तर में चोआ मैदान शाह के निकट स्थित मूर्ति से लेकर दक्षिण में सित्तानवासल और श्रीलंका के सिगरिया तक गुप्त कलाकृतियों का प्रसार देखा जा सकता है. ।[11]

इस बीच अधिकांश विद्वान् गुप्तकालीन कला में क्षेत्रीय शैलियों के सम्मिलन को भी स्वीकार करने लगे हैं। माधुरी देसाई [12] के अनुसार मूल गुप्त कला शैली तो मुख्यत: उत्तर भारतीय शैली ही प्रतीत होती है, जिसके प्रतिष्ठित केंद्र थे कौशाम्बी, सारनाथ, पाटलिपुत्र, विदिशा, मालवा और मथुरा। इस शैली की अन्य सहयोगी क्षेत्रीय शैलियां थी- दक्षिण की दकन गुप्त शैली तथा पश्चिम में गुजरात की पश्चिमी शैली। गुप्तकालीन कला के अध्ययन में केंद्रीय और क्षेत्रीय शैलियों के मध्य स्थापित कला संम्बधों का अध्ययन अब अधिक यौक्तिक माना जाने लगा है। गुप्तोत्तर काल में मंदिर- वास्तु की जिन क्षेत्रीय शैलियों का मुख्य रूप से विकास हुआ, उनमें नागर, द्राविड़ और वेसर शिखर शैलियां विशेष उल्लेखनीय है। इन शैलियों का उल्लेख पुराणों एवं शिल्प ग्रंथों में मिलता है। इन शैलियों के भी क्षेत्रीय उपविभाग मिलते हैं। उपविभागीय इन मन्दिरों को शिखर एवं अन्य अंगीय रचनाओं की वास्तु रचना के आधार पर पूर्वमध्यकालीन शिल्प ग्रंथों में कई नाम से निरूपित किया गया है। यथा-नागर शैली के उपविभाग के रूप में कलिंग-उड़ीसा शैली, गुजरात-लाट शैली, हिमांचल शैली आदि।

साहित्य की तरह कला की भी अपनी भाषा होती है। यह भाषा उसमें निहित प्रतीकात्मकता के द्वारा प्रतिभासित होती है। कला-अभिप्रायों एवं प्रतीकों को समझे बिना कला की सांगोपांग व्याख्या नहीं की जा सकती है। ज्ञातव्य है कि प्राचीन मंदिर-वास्तु अपनी सम्पूर्ण रचना में प्रतीकात्मक रही है। प्रस्तुत विमर्श के आरम्भ में ही यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि अनन्त अथवा परमसत्ता के दो रूप हैं-प्रकृति और विकृति। प्रकृति उसका निराकार रूप है। परन्तु उसका विकृति रूप ही सारा जगत और जगत-व्यापार है। मंदिर इसी साकार परमात्मा के विकृति रूप का प्रतीक है विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इसे विशद् रूप से व्याख्यायित किया गया है:

"प्रकृतिविकृतिर्यस्य रूपेण परमात्मान:।
अलक्ष्यं तस्य तदरूपं प्रकृतिस्सा प्रकीर्तिता।।
साकारा विकृतिज्ञेया तस्य सर्व जागृतम् ।
पूजाध्यानाधिकं कर्तु साकारस्यैव शक्यते"।।

ध्यातव्य है कि वैदिक मृण्मयी इष्टिकाओं की अग्नि चयन परम्परा से ही सम्भवतः मन्दिर नींव- निर्माण एवं शिलान्यास में पक्वेष्टकाओं का प्रयोग प्रारंभ हुआ था

तैत्तिरीय संहिता में इष्टिकाओं को यज्ञतनु कहा गया है। आगे चलकर शिल्पशास्त्रों में मन्दिर-निर्माण में प्रयुक्त पक्वेष्टकाओं को मंदिर का कलेवर माना गया। वस्तुत: मंदिर ऋग्वेदोक्त परमसत्ता 'पुरुष' का प्रतीक है। यही कारण है कि इष्टिकान्यास के समय वैदिक मंत्रों द्वारा उनमें वाक् शक्ति की प्राण-प्रतिष्ठा का विधान मिलता है। प्रतीक रूप में इष्टिका भू अथवा पृथ्वी है। शतपथ ब्राह्मण में इष्टिका को आषाढ़ कहा गया है, जो भू का ही रूप है। इष्टिकाओं को वैदिक यज्ञ विधान में अग्नि के अंगों के रूप में परिकल्पित किया गया है। अस्तु, मंदिर में प्रयुक्तं इष्टिका भू तथा वाक् दोनों ही का प्रतीक होने के कारण देवी का रूप माना जा सकता है।

मन्दिर के शिलान्यास एवं निर्माण की परम्परा में पाषाण शिलाओं का प्रयोग अवांतरयुगीन माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि समरांगण सूत्रधार[13] की रचना के बहुत पूर्व काल से ही इष्टिकान्यास के समान ही शिलान्यास की परम्परा भी मन्दिर-वास्तु में शुभ मानी जाने लगी थी। मत्स्य पुराण[14] में मंदिर में प्रयुक्त शिला को ब्रह्म शिला कहा गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण[15] में मन्दिर-वास्तु के समय इष्टिका के स्थान पर सर्वप्रथम शिलान्यास का विशद् का वर्णन मिलता है। वराहमिहिर[16] ने वैदिक इष्टिकाओं के समान शिलाओं को भी देवी-रूप मानकर आवाहन करने पर बल दिया है। वैखानसागम में मन्दिर-न्यास में चारों दिशाओं में प्रयुक्त शिलाओं को चारों वेदों का प्रतिरूप कहा गया है। मन्दिर-निर्माण में शिलान्यास-संस्कार करते समय आधार-शिला के ऊपर निधिकलश स्थापित किये जाने की परम्परा शक्ति और विष्णु के रूप में आधारस्थ शिला को दृढ़ता प्रदान करने के लिए किये जाने का विधान मिलता है। ज्ञातव्य है अब तक प्राप्त प्राचीनतम इष्टिका-निर्मित मन्दिर कानपुर जनपद में अवस्थिति भीतरगांव का गुप्तकालीन मन्दिर ही माना जाता है। इस इस कोटि के कतिपय विशेष उल्लेखनीय अन्य मन्दिर हैं-मध्यप्रदेश में सीरपुर का लक्ष्मण मन्दिर, आंध्रप्रदेश का तार स्थित उत्तरेश्वर तथा कालेश्वर मंदिर आदि।

पौराणिक धर्म में धर्म के दो रूप इष्ट और पूर्त की बड़ी महत्ता विवृत है। इष्ट का तात्पर्य है यज्ञ-कर्म तथा पूर्त का तात्पर्य है- देवालय, जलाशय आदि सर्वजनोपयोगी -निर्माण कार्य। सूत्रग्रन्थों में पूर्त धर्म के अन्तर्गत 'प्रतिष्ठोत्सर्ग' को धर्मकर्म का विशिष्ट अंग माना गया है। पौराणिक धर्म में इसे 'इष्टापूर्त' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।[17] तन्त्र एवं आगम ग्रन्थों में भी इनका बड़ा माहात्म्य बताया गया है। पांचरात्र प्रभृति तंत्र ग्रन्थ एवं कामिकादि आगम ग्रन्थों में इष्टापूर्त को श्रेष्ठतम धर्म-कार्य कहा गया है। 'प्रतिष्ठा' का तात्पर्य धर्मार्थ समर्पण-कर्म कहा गया है, जिसमें संकल्प, होम, दान, दक्षिणा तथा भोजन-दान आदि सम्मिलित बताये गए हैं। इसी प्रकार 'उत्सर्ग' का भी तात्पर्य है- दान-कर्म। इसका विशेष परिज्ञान हमें हेमाद्री के दानक्रिया-कौमुदी, रघुनन्दनकृत 'जलासयोगसर्ग तत्त्व' नीलकण्ठ विरचित 'प्रतिष्ठामयूख' एवं 'उत्सर्ग मयूख' आदि धर्मशास्त्र ग्रन्थों से होता है। 'प्रतिष्ठा' को उत्सर्ग से श्रेष्ठ कर्म इसलिए माना गया है कि दाता अपने द्वारा बनवाये गए मन्दिर, तड़ाग, कूप, बावली आदि का सार्वजनिक उत्सर्ग कर देने पर स्वयं भी उसके उपभोग का अधिकारी बना रहा सकता है। किंतु उत्सर्ग व्यक्तिगत दिया हुआ दान होने के कारण दानदाता द्वारा पुनः भोग्य नहीं रह जाता है। कालिका पुराण में पूर्त-कर्म को इष्ट-कर्म से भी श्रेष्ठ तर कहा गया है-

'इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसंमतौ।
प्रतिष्ठाय तयो: पूर्तमिष्टं यज्ञादिलक्षणम'।।

मन्दिर में प्रतिमा एवं उसमें प्राण-प्रतिष्ठा अथवा मन्दिर वास्तु की प्राण-प्रतिष्ठा मत्स्य पुराण में पूर्त-कर्म के अन्तर्गत परगणित किया गया है:

एवभेव पुराणेषु तडागविधिरूयते।
कूपवापीषु सवासु तथा पुष्करिणीषु च।।
एष एवं विधिर्दृष्ट: प्रतिष्ठासु तथैव च।
ममंतस्तु विशेष: स्यात् प्रासादोद्दानभूमिषु।।

जिस प्रकार मानव के शरीर और प्राण का सम्बन्ध है, उसी प्रकार मन्दिर-वास्तु में मन्दिर के कलेवर और उसके गर्भगृह में स्थापित प्रतिमा के मध्य माना गया है।

मन्दिर में प्रतिमाओं के प्रकल्पन एवं अंकन के दो प्रमुख वर्ग मिलते हैं। प्रथम गर्भगृह में स्थापित प्रधान देवता तथा उसके गण और परिवार के सदस्यों का मन्दिर के आलों तथा भित्तियों आदि पर अंकन एवं प्रदर्शन। दूसरे वर्ग में मन्दिर की भित्तियों आदि पर यक्षों, गन्धर्वों, ऋषियों, मुनियों, अप्सराओं, नागों, नवग्रहो, वस्तुओं तथा अन्य देव-देवियों की प्रतिमाओं को अंकित किया जाता है। मन्दिरों पर इन प्रतिमाकनों के अतिरिक्त कतिपय अलंकरण एवं धार्मिक आकृतियाँ (Motifs) एवं प्रतीकों (Symbols) तथा गज, सिंह, मकर, शार्दूल, पूर्णघट, मयूर, कीर्तिमुख,कल्पलता,हंस, स्वस्तिक, चक्र, पर्वत, कमल, सूर्य, जल, त्रिशूल आदि का अंकन मन्दिर को ब्रह्माण्ड का प्रतीक सिद्ध करने में सहायक दिखते हैं। मन्दिरों पर आमलक, बिंदु-विनिवेश मिथुन-चित्रण आदि ब्रह्माण्ड व्यवस्था के प्रतीक हैं। मन्दिर के विभिन्न अंगों— द्वार, गवाक्ष तथा बाह्य भित्तियों पर प्राप्य शार्दूल, कीर्तिमुख, सिंहनी आदि मूर्तियों का अंकन शक्ति तथा परमात्मा की सर्वोच्चशक्ति-संपन्नता के प्रतीक हैं। दक्षिण भारत के द्रविड़ मन्दिरों के निर्माण के साथ ही गोपुरों का अनिवार्यतः निर्माण उनके आनुषांगिक अंग के रूप में मिलता है। हावेल ने बहुत पहले 'गोपुर' शब्द की व्याख्या गोत्र के समान गौओं के दुर्ग के रूप में किया था। परन्तु अब अधिकांश विद्वान् 'शब्द कल्पद्रुम' में प्राप्त 'गुप रक्षणार्थे' धातु को आधार मानकर 'गोपुरों' को मन्दिर के रक्षा द्वार के रूप में मानना अधिक यौक्तिक मानते हैं। 'अमरकोश में पुरद्वारं तु गोपुरम्' बताया गया है। अतः 'गोपुर' का मूल अर्थ द्वार अथवा प्रवेश-द्वार मानना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

मन्दिर मानव एवं ईश्वर के बीच के सम्बन्ध का वास्तु प्रतीक है। यह सांसारिक जीवन एवं दिव्य जीवन को जोड़ने वाली धार्मिक रचना है। मन्दिर प्रतीक है—मानव के आदर्श एवं यथार्थ जीवन को जोड़ने का 'देवालय' शब्द ही यह स्पष्ट करता है कि ईश्वर अथवा देवता का वास-स्थान अथवा घर है। यहाँ रहकर वह ईश्वर मानव एवं जीवों का कल्याण करता है। यह देवता का प्रासाद अर्थात् आनन्दवर्द्धक पवित्र वास-स्थल है।इसके ध्वज-स्तम्भ के ऊपर लगायी गयी पताका चाहे वह स्वर्ण, पीतल अथवा चाँदी आदि धातु द्वारा निर्मित हो, अथवा सिल्क आदि कपड़े का बना हो, गर्भगृह में स्थापित देवता के प्रतीक-चिह्न की परिचायक है। राजप्रासाद की तरह मन्दिर के चारों ओर प्राकार

विशाल प्रवेश-द्वार (गोपुर) आदि गर्भगृह में स्थापित देवता के राजराजेश्वर रूप के प्रतीक हैं। गर्भगृह (सैंक्टम सैंन्कटोरम) के ऊपर निर्मित विमान मन्दिर-वास्तु के यथोचित समानुपात का द्योतक है। संस्कृत भाषा में मा धातु से मन बनता है, जिसका अर्थ होता है—नाप अथवा परिमाप। विमान शब्द मन्दिर-वास्तु के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड निर्माता के उचित मान एवं परिमाण में व्याप्त परिपूर्णता का प्रतीक है अथवा विमान दिव्यलोक के उस यान का प्रतीक माना जा सकता है जिस पर चढ़कर देवता मानव को वरदान अथवा कृपादान हेतु पृथ्वीतल पर आया करते हैं।

ब्राह्मण धर्म में तीर्थयात्रा का बड़ा महत्व बताया गया है। तीर्थो का मन्दिरों से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध मिलता है। इस प्रकार पौराणिक परिकल्पना में मन्दिर-दर्शन भी तीर्थदर्शन की ही तरह संसार-सागर से तारने का प्रतीक माना जाता है। मन्दिर-निर्माण की नींव-निर्माण—उत्सेध योजना भी प्रतीकात्मक है। क्षैतिज रूप से गर्भगृह का निर्माण स्थापित देवता के सिर का तथा मन्दिर का द्वार अथवा उसका गोपुरम प्रधान देवता के पैर का प्रतीक बताया गया है। इसी प्रकार मन्दिर के अन्य भाग देवता के शरीर के विभिन्न अंगों के प्रतीक हैं। उदाहरण के लिए मन्दिर का सुकनासी अथवा सुकनास अंग अथवा गर्भ-गृह के

सम्मुख निर्मित अर्धमण्डप देवता की नासिका का प्रतीक माना जाता है। सुकनास के सम्मुख बना अन्तराल, जो आगे के मण्डप तथा नृत्य मण्डप से जुड़ता है, देवता का गला, शेष सभी मण्डप उसके शरीर तथा बाहरी प्राकार उसके हाथ के प्रतीक माने जाते हैं।गर्भगृह के ऊपर बना शिखर देवता का सिर, उसके ऊपर निर्मित कुब्जाकार आकृति, कलसी अथवा कलश देवता की शिखा, के प्रतीक माने जाते हैं।

मन्दिर को ब्रह्माण्ड का प्रतीक-रूप में भी माना गया है, जिसमें सातों लोकों को वासित माना जाता है। भूलोक को देवता के पैर का प्रतीक तथा सत्यलोक अथवा ब्रह्मलोक को देवता की शिखा का प्रतीक माना गया है। मन्दिर के अन्य अंग एवं भाग भुवर्लोक, स्व:लोक, महलोक, जनलोक तथा तप:लोक के प्रतीक हैं। मन्दिर का अधिष्ठान अथवा जगती भाग भू-लोक का प्रतीक है। इसी प्रकार अधिष्ठानपीठ, स्तम्भ, स्तम्भों को धारण करने वाले प्रस्तर, शिखर, आमलसार एवं स्तूपिका क्रमशः भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य लोक के प्रतीक माने जाते हैं।

ध्यातव्य है कि पुराणों में मन्दिर को दैवी एवं मिथकीय मेरू पर्वत को भी प्रतीक माना गया है। मेरु पर्वत पौराणिक उल्लेखानुसार ब्रह्माण्ड की केन्द्रीय स्थिति का प्रतीक है। उसके चारों ओर विभिन्न वर्षों की अवस्थिति आख्यात है। इतना ही नहीं, मन्दिर संसार के वास्तविक एवं आदर्श रूप के भी प्रतीक माने जा सकते हैं। उदाहरणार्थ दक्षिण भारतीय मन्दिरों के गोपुरम विश्व के ब्रह्म रूप विस्मयकारी रूप के प्रतीक हैं। मन्दिर की बाहरी भित्तियों तथा प्रास्तरगलों पर उकेरी गई भांति -भांति की मूर्तियाँ मानव के सांसारिक जीवन एवं पुरुषार्थ-रुपों के परिचायक हैं।

मन्दिर की भित्तियों पर जहाँ मानव के सांसारिक जीवन और लोक का यथार्थ अंकन मिलता है, वहीं वैदिक पौराणिक मिथकीय तथा धार्मिक मूर्तनों एवं प्रतीकों के द्वारा देवताओं का अंकन करके आधिभौतिक से आधि वैदिक आदर्श जीवन की ओर अभिगमन की भी प्रेरणा दी गयी है। मन्दिरों को वस्तुतः महान् सांस्कृतिक एवं धार्मिक विरासत के रूप में देखा जाता है। वृहत्तर रूप में मन्दिर जहाँ ब्रह्माण्ड के प्रतीक है वहीं लघुत्तर रूप में मानव के भी प्रतीक हैं। शिल्प ग्रन्थों में मन्दिर के विभिन्न भागो के तकनीकी नाम मानव के शरीरांग के समान ही मिलते हैं, यथा पादुका, पाद, कर्ण, जंघा, उरु, गला, ग्रीवा, कण्ठ, सिर, शीर्ष, कर्ण, नासिका और शिखा आदि। मन्दिर का स्तम्भ पाद (पैर), जगती के ऊपर निर्मित मन्दिर का निचला भाग जंघा, मन्दिर की दीवाल के ऊपर दो गढ़नों के बीच का भाग गला अथवा ग्रीवा तथा नासिका के समान आकार वाला गर्भगृह के ठीक बाहर का मण्डप नासिका कहा जाता है। गर्भगृह मानव हृदय का, उसमें स्थापित मूर्ति अनन्त अथवा अन्तर्यामी आराध्य देवता का प्रतीक है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ:

1. द्रष्टव्य-विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अध्याय 95
2. ऋग्वेद, 4.24.10
3. शतपथ ब्राह्मण, 3.1.22,3.6.1-2
4. शतपथ ब्राह्मण, 3.6.1-2
5. तैत्तिरीय संहिता, 6.2.55
6. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 10.5.1
7. ऋग्वेद, 4.3.13
8. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : गुप्त, परमेश्वरीलाल 1989 : भारतीय वास्तुकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी पृ० 71-72
9. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : गुप्त, परमेश्वरीलाल 1989 : भारतीय वास्तुकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी पृष्ठ 71-72
10. द्रष्टव्य-विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अध्याय 95, पृ० 73 पाद टिप्पणी

11. द्रष्टव्य-विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अध्याय 95, पृ० 75
12. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : दि गुप्त टेम्पुल ऐट देवगढ़, मुंबई 1959
13. समरांगणसूत्रधार, अध्याय, 35
14. मत्स्य पुराण, अध्याय 58 उपं 64
15. विष्णुधर्मोत्तरपुराण
16. वृहत्संहिता
17. द्रष्टव्य, मत्स्य पुराण, अध्याय 58